R.N.I. No. : DELBIL / 2001/4685 Postal regn. No. : A.L.G. / 29 / 2018-20

मूल्य-4 रुपये, वर्ष-19, अङ्क-3 मार्च 2019 1

श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट, अलीगढ़ (उ०प्र०) का
मासिक मुख-समाचार पत्र

मङ्गलायतन

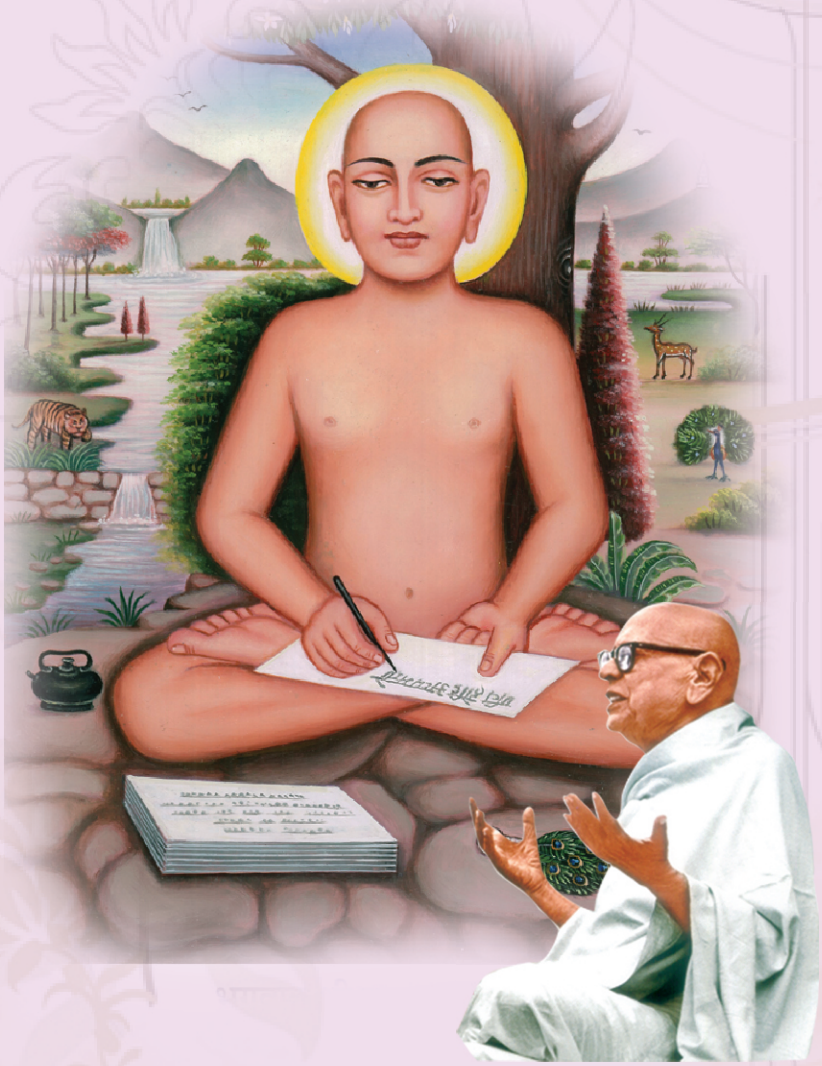

निज चैतन्यनगर के वासी मुनिराज

वीतराग जैन मुनि कैसे होते हैं ? उसकी यह बात है। सच्चे जैनमुनि के / वीतराग दिगम्बर सन्त के दर्शन भी दुर्लभ हो गये हैं। बाहर से देखने पर आत्मज्ञानी, संसार विरक्त मुनिराज, आत्मसाधना के लिए वन में अकेले निवास करते हैं परन्तु अन्तर में देखने पर उनका निवास सहजज्ञान और सहज आनन्दादि अनन्त गुणों से भरपूर निज स्वरूपनगर में है। सर्वज्ञ वीतराग परमात्मा जिन्हें मुनि कहते हैं और जिन्होंने निज ज्ञायकस्वभाव के उग्र अवलम्बन से आत्मा में से संयमपरिणति प्रगट की है – ऐसे निर्ग्रन्थ दिगम्बर साधक सन्त, वन में अकेले बसते हैं परन्तु अन्दर में देखने पर वे अकेले नहीं हैं, अपितु अनन्त गुणरूप बस्ती से भरपूर निज-चैतन्यनगर में उनका वास है। अहा ! उन्होंने अन्दर स्वरूपनगर में निवास लिया है।

इस वाक्य में **बाहर से देखने** के सामने **अन्दर से देखने पर** और **वन** के सामने **स्वरूप नगर** में तथा **अकेले** के सामने **अनन्त गुण से भरपूर** – ऐसे तीन प्रकार से शब्द का मेल आ गया है। अनन्त गुण से भरपूर निजस्वरूप नगर में आत्मसाधना के लिए मुनिराज का वास है। पाँच महाव्रत पालते हैं, छह काय की दया पालते हैं, उसमें तो कुछ भी साधकपना नहीं है। शुद्धात्मा की अन्तरसाधना करनेवाले को ही साधु कहते हैं। अहा ! भाषा तो देखो ! एक-एक शब्द के पीछे गम्भीर भाव है।

(पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी)

मङ्गलायतन

श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट, अलीगढ़ (उ.प्र.) का

मासिक मुखपत्र

वर्ष-19, अङ्क-3 (वी.नि.सं. 2544) मार्च 2019

रे जिय! भजो आतम देव.....

रे जिय! भजो आतम देव लहो शिवपद एव ।टेक ॥

असंख्यात प्रदेश जाके, ज्ञान दरस अनन्त।
सुख अनन्त अनन्त वीरज, शुद्ध सिद्ध महन्त ॥1 ॥

अमल अचल अतुल अनाकुल, अमन अवच अदेह।
अजर अमर अखय अभय प्रभु, रहित विकल्प नेह ॥2 ॥

क्रोध मद छल लोभ न्यारो, बन्ध मोक्षविहीन।
राग दोष विमोह नाहीं, चेतना गुणलीन ॥3 ॥

वर्ण रस सुरगन्ध सपरस, नाहिं जामें होय।
लिंग मारगना नहीं, गुणस्थान नाहीं कोय ॥4 ॥

ज्ञान दर्शन चरन रूपी, भेद सो व्योहार।
करम करना क्रिया निश्चय, सो अभेद विचार ॥5 ॥

आप जाने आप करके, आप माहीं आप।
यही ब्योरा मिट गया तब, कहा पुन्य रू पाप ॥6 ॥

है कहैं है नहीं नाहीं, स्याद्वाद प्रमान।
शुद्ध अनुभव समय 'द्यानत', करौ अमृत पान ॥7 ॥

— कविवर द्यानतराय

संस्थापक सम्पादक
स्व. पण्डित कैलाशचन्द्र जैन, अलीगढ़
मुख्य सलाहकार
श्री बिजेन्द्रकुमार जैन, अलीगढ़
सम्पादक
पण्डित संजय जैन शास्त्री, मङ्गलायतन
सह सम्पादक
पण्डित सुधीर जैन शास्त्री, मङ्गलायतन
सम्पादक मण्डल
ब्रह्मचारी पण्डित ब्रजलाल शाह, वढ़वाण
बाल ब्रह्मचारी हेमन्तभाई गाँधी, सोनगढ़
डॉ. राकेश जैन शास्त्री, नागपुर
श्रीमती बीना जैन, देहरादून
सम्पादकीय सलाहकार
पण्डित रतनचन्द भारिल्ल, जयपुर
पण्डित विमलदादा झाँझरी, उज्जैन
श्री चिरंजीलाल जैन, भावनगर
श्री प्रवीणचन्द्र पी. वोरा, देवलाली
श्री वसन्तभाई एम. दोशी, मुम्बई
श्री श्रेयस् पी. राजा, नैरोबी
श्री विजेन वी. शाह, लन्दन
मार्गदर्शन
डॉ. किरीटभाई गोसलिया, अमेरिका
पण्डित अशोक लुहाड़िया, अलीगढ़

इस अङ्क के प्रकाशन में
सहयोग-
स्व. श्री सुमतिचन्द्र एवं
माता श्रीमती इन्द्राणी देवी
की स्मृति में श्रीयुत अजय,
विजय, रतन, पवन जैन
मुम्बई-दिल्ली-हाथरस

क्या - कहाँ

ज्ञान की अनुभूति,..... 5
भगवान महावीर द्वारा 8
विराग 13
महासागर के मोती 17
आचार्यदेव परिचय शृंखला 21
श्री प्रभाचन्द्राचार्य (द्वितीय) 21
श्री अकलंक भट्ट 22
उपदेश सिद्धांत रत्नमाला 28
दृष्टि का विषय 32
श्रीमद् राजचन्द्रजी द्वारा 33

शुल्क :
वार्षिक : 50.00 रुपये
एक प्रति : 04.00 रुपये

ज्ञान की अनुभूति, वह मोक्ष का मार्ग

पूज्य कानजीस्वामीजी द्वारा दिए गए श्री समयसारजी की 17-18वीं गाथा के प्रवचन का सार

जिसको दु:ख से छूटकर आत्मा के परम आनंद की प्राप्ति का प्रयोजन है, वह जीव आत्मा का अर्थी होकर नि:शंकरूप से अनुभव द्वारा उसकी सेवा करता है। मोक्षार्थी को पहले शुभरागादि अन्य कुछ करने को नहीं कहा, परंतु पहले ही आत्मा को जानकर-पहिचानकर उसका अनुभव करना कहा है। पहले शास्त्रादि से सामान्य जानकारी हो, उसकी बात नहीं है किंतु स्वानुभवपूर्वक जानना, वही सच्चा ज्ञातृत्व है।

प्रत्येक जीव ज्ञातास्वरूप ही है; परंतु 'यह जो जाननेरूप चेतनभाव है, वही मैं हूँ'—इस प्रकार अनुभूतिस्वरूप से स्वयं अपने को जाने, तब आत्मा जाना कहा जाता है और तब ज्ञानी की सेवा की कही जाती है। ज्ञान की ऐसी सेवा ही ज्ञानी की सच्ची सेवा है।

आत्मा को 'राजा' कहा; राजा अर्थात् श्रेष्ठ। ज्ञातास्वभावी आत्मा ही सर्वश्रेष्ठ है, उच्च है, ऊर्ध्व है। ज्ञान की ऊर्ध्वता है; वह रागादि को जानने से उनमें एकमेक कहीं हो जाता परंतु उनसे पृथक् रहता है—ऐसी उसकी ऊर्ध्वता है। परंतु 'यह रागादिभाव मैं हूँ'—ऐसा अज्ञानी अनुभव करता है, इसलिए राग से भिन्न ज्ञान का वह सेवन नहीं करता। धर्मी तो राग को जानते हुए भी 'यह जो चेतनभावरूप से अनुभव में आता है, वही मैं हूँ, रागादि मैं नहीं हूँ'—इस प्रकार भेदज्ञान द्वारा ज्ञान का ही सेवन करते हैं। ऐसी सेवा, यह मोक्ष को साधने का उपाय है।

जो रागादि अन्य भाव हैं, वे कहीं चेतनरूप से अनुभव में नहीं आते। द्रव्य-गुण के स्वभाव में तो रागादि नहीं हैं और पर्याय में चेतनभावरूप से आत्मा परिणमित होता है, उस चेतनभाव में रागादि नहीं है—इस प्रकार पर्याय में भी चेतन और राग की भिन्नता है। जो ज्ञानरूप से ज्ञात होता है,

ज्ञानरूप से ही स्वाद में आता है, उसका संबंध मेरे स्वभाव के साथ है; ज्ञान में जो रागरूप से ज्ञात होता है, उसका संबंध मेरे स्वभाव के साथ नहीं है। इस प्रकार ज्ञान और राग को भिन्न-भिन्न अनुभव में लेने से ज्ञानी को आत्मज्ञान उदित होता है; उस ज्ञान के साथ ही उसकी नि:शंक प्रतीति वर्तती है और ज्ञान-श्रद्धापूर्वक उसी में स्थिर होने से परम आनंद का अनुभव होता है।—इस प्रकार साध्य की सिद्धि होती है।

जड़ और चेतन, ज्ञान और राग, आकुलता और शांति—ऐसे अनेक भाव हैं; उनमें 'मैं तो ज्ञान हूँ, ज्ञान और शांतिमय जो चेतनभाव है, वही मैं हूँ; चेतनपने में विस्तरित भाव, वह आत्मा है, उतना ही मैं हूँ और चेतनता से बाह्य ऐसे रागादि अन्यभाव, वह सच्चा आत्मा नहीं है, वह मेरा स्वरूप नहीं है'—इस प्रकार धर्मी अपने को ज्ञान को अनुभूतिरूप जानता है। ऐसी अनुभूति में कहीं अकेला ज्ञान नहीं हे, आत्मा के अनंत गुणों की निर्मलता का उसमें वेदन है। ऐसे वेदनपूर्वक आत्मा को जाना, वह सच्चा ज्ञान है और उसी को सच्चे आत्मा की श्रद्धा होती है। जिसे जाने उसकी श्रद्धा कर सकता है; वस्तु को जाने बिना श्रद्धा किसकी? जाने हुए का ही श्रद्धान होता है—ऐसा कहने से कहीं श्रद्धा का मूल्य कम नहीं हो जाता। आत्मवस्तु परभाव से भिन्न, कैसी और कितनी महान है, वह जब ज्ञान में आती है, उसी समय ज्ञानी को उसकी श्रद्धा होती है कि 'यह वस्तु मैं हूँ' और उसी समय निर्विकल्प अनुभूति भी होती है। इस प्रकार आत्मा का सच्चा ज्ञान, सम्यग्दर्शन और अनुभव एकसाथ ही होते हैं। ऐसे अनुभवज्ञान को ही यहाँ ज्ञान कहा है। ऐसा ज्ञान पहले कभी एक क्षण भी जीव ने नहीं किया। ऐसे ज्ञान के बिना कोई कहे कि हमें आत्मा की श्रद्धा हो गई है—तो उसकी श्रद्धा तो गधे के सींगों की श्रद्धा जैसी मिथ्या है। आत्मा कैसा है, वह जाना ही नहीं तो तूने श्रद्धा किसकी की? आत्मा का अचिंत्य गंभीर स्वभाव जैसा है, वैसा जानने में आये, उसी क्षण परिणाम रागादि से भिन्न होकर चैतन्य स्वभावोन्मुख हुए बिना नहीं रहते। ऐसे भेदज्ञान सहित ज्ञान-दर्शन-चारित्र

प्रगट होते हैं और शुद्ध आत्मा की सिद्धि होती है। इसके अतिरिक्त अन्य प्रकार से आत्मा की साधना नहीं होती और धर्म नहीं होता।

अहा, ज्ञान का अस्तित्व कैसा है, उसकी जीवों को खबर नहीं है। ज्ञानस्वरूप से ही अपना अस्तित्व है, उसके बदले विकल्प में अपना अस्तित्व मानकर रुक गये हैं, इसलिए भिन्न ज्ञान का अत्यंत मधुर चैतन्यस्वाद उन्हें नहीं आता, इसलिये आत्मा के सच्चे स्वरूप का अनुभव नहीं होता, रागादि अशुद्धभावरूप ही वे अपना अनुभव करते हैं।—ऐसे जीवों को साध्य आत्मा की सिद्धि नहीं होती। रागादि समस्त विभावों से भिन्न, चेतनस्वभावरूप जो अनुभव में आता है, वही मैं हूँ—ऐसे भिन्न आत्मा के अनुभव में तो आत्मा के अनंत गुणों का स्वाद समा जाता है। ऐसे स्वरूप से जहाँ आत्मा को पहिचाना, वहाँ जीव स्वयं अपने स्वरूप में निःशंक स्थिर होने में समर्थ हुआ। इस प्रकार भेदज्ञान द्वारा उसे साध्य आत्मा की सिद्धि होती है।

ज्ञान के अनुभव से रहित पर की चाहे जितनी जानकारी हो, उसे ज्ञान कहते ही नहीं, उसमें ज्ञान का सेवन नहीं है, उसमें तो रागादि परभाव का सेवन है। भाई, तूने शास्त्र भले पढ़े; परंतु शास्त्रों में कहा हुआ जो राग से भिन्न ज्ञान, उस ज्ञान का सेवन तूने कभी नहीं किया और तब तक तेरी श्रद्धा या आचरण भी सच्चा नहीं होता। आत्मा के ज्ञान का सेवन तो राग से पार है और शास्त्रों के परलक्षी ज्ञातृत्व से भी पार है; वह तो अंतर की अतीन्द्रिय वस्तु है। आत्मा को जानता हो तो अतीन्द्रिय-प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा ही वह ज्ञात होता है। अतीन्द्रिय ज्ञानसहित श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है और तत्पश्चात् चारित्रदशा होती है। जिसे चारित्रदशा हुई, वह तो भगवान हो गया। चारित्र की महिमा की जगत को खबर नहीं हैं; चारित्र से पूर्व आत्मा के ज्ञान-श्रद्धान कैसे होते हैं, उसकी भी जगत को खबर नहीं है। यह तो आत्मसाधना का अलौकिक अंतरंगमार्ग है, जिसके फल में सादि-अनंत काल तक अनंत सुख का अनुभव है।●

[आत्मधर्म (हिन्दी), अंक-13 (मई-1972), वर्ष-27]

भगवान महावीर द्वारा साधा गया और दर्शाया गया आत्मा का स्वभाव

[वांकानेर (सौराष्ट्र) में महावीर जयंती के अवसर पर पूज्य स्वामीजी का प्रवचन]

आज भगवान महावीर का मंगल जन्म-दिवस है। वे तीर्थंकर हुए उससे पूर्व अनादि-संसार में परिभ्रमण करते-करते एक भव में सम्यग्दर्शन प्राप्त किया और फिर उन्नतिक्रम में आगे बढ़ते-बढ़ते तीसरे पूर्वभव में मुनिदशा में सोलहकारणभावनापूर्वक उन्हें तीर्थंकर प्रकृति का बंध हुआ; फिर अंतिम भव में इस भरतक्षेत्र में अंतिम तीर्थंकर के रूप में अवतरित हुए; इन्द्रों ने उनका जन्म-कल्याणक महोत्सव मनाया; उसका आज दिवस है। भगवान के आत्मा को सम्यग्दर्शन तथा अवधिज्ञान तो जन्म से ही थे, पश्चात् तीस वर्ष की उम्र में कुमार अवस्था में उन्हें जातिस्मरण ज्ञान हुआ। पूर्वभवों में आत्मा कहाँ था, वह देखा और वैराग्य में एकदम वृद्धि हो गई, जिससे दीक्षा लेकर मुनि हुए। मुनि होकर आत्मा के ज्ञान-ध्यानपूर्वक साढ़े बारह वर्ष तक तप करते-करते केवलज्ञान प्रगट किया और अरिहंत परमात्मा हुए। पश्चात् आत्मानंद में झूलते-झूलते भगवान केवलज्ञान को प्राप्त हुए। केवलज्ञान होने के पश्चात् उन वीरनाथ भगवान ने कैसा आत्मस्वभाव दर्शाया उसका यह वर्णन है।

मैं ज्ञानस्वभावी हूँ—ऐसा जिसने श्रुत के अवलंबन से निर्णय किया है, वह जीव जब मति-श्रुत को अंतर्मुख करके अंतर में आनंद के नाथ से भेंट करता है, चैतन्य भगवान का स्पर्श करता है, तब नयों के सर्व विकल्पों से वह पृथक् हो जाता है और निर्विकल्परूप से विज्ञानघन स्वभाव में पहुँच जाता है।

नयपक्ष के विकल्परहित आत्मा स्वानुभव के आनंद से स्वयं सुशोभित होता है। जिस प्रकार भगवान अरिहंतदेव का शरीर वस्त्राभूषण रहित ही

स्वयं शोभायमान होता है, उसी प्रकार चैतन्यतत्त्व स्वयं स्वभाव से ही ज्ञान-आनंदमय है; अपने ज्ञान-आनंद द्वारा वह स्वयमेव सुशोभित होता है। ऐसे चैतन्यतत्त्व की शोभा के लिये किसी विकल्प के आभूषण की आवश्यकता नहीं होती। विकल्प लक्षण द्वारा भगवान आत्मा लक्षित नहीं होता; विकल्प से भिन्न हुआ जो ज्ञान, उस ज्ञान-आभूषण द्वारा आत्मा शोभायमान होता है, उस ज्ञानलक्षण द्वारा भगवान आत्मा लक्षित होता है। ऐसे आत्मा को लक्ष में लेना, वह भगवान महावीर का संदेश है। ऐसी आत्मविद्या, वह भारत की अपनी विद्या है। ऐसी अध्यात्मविद्या ही भारत की मुख्य विद्या है।

अहा, सम्यग्दर्शन होने से आत्मा भगवान हो गया। सम्यग्दर्शन होने से स्वसंवेदन ज्ञान में आत्मा का प्रत्यक्ष वेदन होता है। जिसने ऐसा वेदन किया, वह जीव वीर के मार्ग में आ गया। धर्मी की अनुभूति में विकल्प न होने पर स्वयं अपना आनंदरूप वेदन करता है। विकल्प का तिनका हट जाने से आत्मा का बड़ा पहाड़ उसे दृष्टिगोचर होता है। अरे, मैंने अपने चैतन्य भगवान को, अपने आनंद के सागर को अपने में देख लिया; मैंने विकल्परहित अपने आत्मरस का आस्वादन कर लिया, आत्मानंद का स्वाद लेने के लिये किन्हीं विकल्पों की आवश्यकता नहीं होती; अपने विकल्प रहित चैतन्यरस का स्वाद अपने में आ रहा है।—ऐसी आत्मानुभूति हुई, वह वीर का मार्ग है। आत्मा स्वयं वीर होकर वीर के मार्ग पर चला जाता है।

जिसे विकल्प के साथ कर्ताकर्मपना है, वह जीव निर्विकल्प आत्मा का अनुभव नहीं कर सकता; उसे सम्यक्त्व के आनंद का स्वाद नहीं आता। जो जीव विकल्प से छूटकर ज्ञानभावरूप परिणमित हुआ है, वह विकल्प को नहीं करता, वह विकल्प से पृथक् का पृथक् ज्ञानभावरूप ही रहता है। सम्यक्त्वादि ज्ञानभावरूप रहना और विकल्प का कर्ता भी होना—यह दो

बातें एकसाथ नहीं हो सकतीं। जो ज्ञाता है, वह विकल्प का कर्ता नहीं है और जो कर्ता है, वह ज्ञाता नहीं है। ज्ञान में विकल्प नहीं है, विकल्प में ज्ञान नहीं है।—इस प्रकार विकल्प और ज्ञान की भिन्नता करके ज्ञानरूप परिणमित होना, वह वीर का मार्ग है। वीर का मार्ग अप्रतिहत है। महावीर परमात्मा का कहना है कि—हे जीव! तेरे चैतन्य में विकल्प का प्रवेश नहीं है। ऐसे चैतन्यस्वभाव का निर्णय करके उसका ज्ञान में ग्रहण कर... वहाँ विकल्प टूटकर आनंद के नाथ से तेरी भेंट होगी। कहा है कि:—

'हरि का मारग है शूरों का, नहि कायर का काम।'

हरि का मार्ग अर्थात् महावीर का मार्ग; ज्ञान और राग की भिन्नता जानकर जिसने अज्ञान को हरा, वह हरि है। भगवान महावीर ने ऐसा मार्ग बतलाया है। यह वीतरागी वीर का मार्ग है, शूरवीर का मार्ग है। शुभ विकल्प करते-करते प्राप्त हो जाए, ऐसा यह मार्ग नहीं है। जो विकल्प के कर्तृत्व में रुके हैं, वे तो कायर हैं, ऐसे कायर जीव वीर के वीतरागमार्ग को प्राप्त नहीं कर सकते।

मैं आनंद का वेदन करनेवाला हूँ, विकल्प का वेदन करनेवाला मैं नहीं हूँ—ऐसा आत्मसाक्षात्कार धर्मी को हुआ है, उसे अपने अंतर में परमात्मा का साक्षात्कार हो गया है। परमात्मतत्त्व के अनुभव में चैतन्यरस रहा और विकल्प का रस निकल गया—इसका नाम भेदज्ञान है। भेदज्ञानपर्यायसहित भगवान स्वयं पवित्र पुराणपुरुष है। उसने परमात्मा का कथन स्वीकार कर लिया है, परमात्मा ने जो कहा, उसका उसने अपने में अनुभव कर लिया है और अब वह अल्पकाल में मोक्षलक्ष्मी का वरण करेगा। मोक्ष को प्राप्त करते हुए उसकी परिणति पराङ्मुख नहीं होगी... वीर भगवान के अप्रतिहत मार्ग पर चलकर वह मोक्षलक्ष्मी का वरण करेगा

★ ★ ★

भगवान महावीरादि सर्वज्ञ भगवंतों ने जगत का स्वरूप साक्षात् देखा; उसमें सर्व पदार्थों का द्रव्य-गुण-पर्यायस्वरूप देखा है; वस्तु ध्रुवरूप से

स्थिर रहकर अपनी पर्यायरूप होती है, उस पर्याय का कर्ता आत्मा स्वयं है। ऐसा वस्तुस्वरूप जाने बिना आत्मा का अनुभव नहीं होता। एकांत ध्रुव या एकांत क्षणिक वस्तु माने तो उसे आत्मानुभव करने का अवसर नहीं रहता। तथा ईश्वर इस आत्मा का कर्ता है—ऐसा माननेवाले को भी 'अपना आत्मा ही परमात्मा है'—ऐसी पहिचान का अवकाश नहीं रहता। यहाँ तो—आत्मा के स्वरूप का ज्ञान में यथावत निर्णय करके जिसने उसका अनुभव किया है, वह जीव कैसा है ?—उसका वर्णन है। बाह्य कार्यों की तो बात ही क्या, अंतर के एक सूक्ष्म विकल्प का भी काम उसके ज्ञान में नहीं है; ज्ञान अंतरोन्मुख होकर विज्ञानरसरूप हो गया है।

ज्ञानी हुआ, वह जानता है कि पहले अज्ञानदशा में मैं अपने ज्ञानानन्दस्वभाव से भ्रष्ट होकर विकल्प के वन में भटकता था; अब उन विकल्पों से दूर होकर, भेदज्ञानरूपी अंतर्मुखी मार्ग द्वारा मैं अपने चैतन्यरस के समुद्र में ढला हूँ; मेरी ज्ञानधारा ज्ञानरसरूप ही परिणमित होती है। मेरे ज्ञानरस के महाप्रवाह में विकल्पों का एक अंश भी नहीं है। इस प्रकार ज्ञान और विकल्प के बीच कर्ता-कर्मपना छूट गया है। अब ज्ञान अपने रस में ही निमग्न रहता हुआ विकल्पों के मार्ग से दूर से ही विमुख हो गया है—लौट गया है। विकल्प के काल में ज्ञान तो ज्ञानरसरूप ही रहता है, वह विकल्प की ओर जरा भी आकर्षित नहीं होता। अहा, ज्ञान के रसिक जीवों ने चैतन्य का ऐसा मार्ग देखा है। भगवान ने ऐसा मार्ग बतलाया है। यह महावीर के मार्ग का मधुर प्रवाह है।

अरे जीव ! एकबार यह वीर की वाणी सुन तो सही ! वीरनाथ का संदेश है कि तेरा आत्मा ही ऐसा आनंदस्वरूप है जिसे जानने से उसमें तन्मय होकर परम सुख का स्वाद आता है। परोन्मुख होकर पर को जानने से कहीं सुख का वेदन नहीं होता। आत्मा ही स्वयं ऐसा सारभूत है कि जिसे जानने से सुख प्राप्त होता है। आत्मा को जानने से विकल्पों का जाल टूट जाता है। ज्ञान का ज्ञानरस में आना तो सहज है, उसमें विकल्प का बोझ नहीं

है।—ऐसे ज्ञानरस में निमग्न होने पर हे जीव! तुझे आनंद का तथा शांति का अनुभव होगा। जिस प्रकार पानी को ढलान मिलने से वह सहजरूप से उस ओर मुड़ जाता है, उसी प्रकार आत्मा की चैतन्यपरिणति को भेदज्ञानरूपी ढलान मिला, वहाँ उसका विकल्प के वन में अटकना रुक गया और सहजरूप से अंतर में ढलकर वह अपने आनंदसमुद्र में लीन हो गई। अहा, यह तो सम्यग्दृष्टि का अपने में देखा हुआ मार्ग है...

वीर का मार्ग तो अंतर का गंभीर मार्ग है; पुण्य-पाप तो ऊपर की छिछली वृत्तियाँ हैं; उनसे दूर जाकर अर्थात् विवेक द्वारा विकल्प से भिन्न आत्मा को जानकर, चैतन्यस्वरूप की गहराई में उतरते ही अपने चैतन्यरस का महासमुद्र प्राप्त होता है। हे चैतन्यरस के रसिकजन! ऐसे अपने शांतरस के समुद्र को देखो! उसे देखने से विकल्प की लहरें शांत हो जायेंगी।

चैतन्य में ढला हुआ ज्ञान तो अतिगंभीर है। नयपक्ष के विकल्पों में ऐसी गंभीरता नहीं है कि वह अंतर में चैतन्य आत्मा को देख सके। धर्मी की दृष्टि अंतर में चैतन्य को देखनेवाली है, वह अपने आनंदरस के एक अंश को भी विकल्प में नहीं जाने देती। चैतन्यरस तो परम शांत है, राग के आकुल रस से उसकी तुलना नहीं हो सकती। ज्ञान स्वयं ही अपने आधार से परिणमित होता हुआ अपने को विकल्प से भिन्न ज्ञानरूप अनुभव करता है। जिसने ऐसा अनुभव किया, वह जीव महावीर के मार्ग में आ गया।

धर्मी के ज्ञानरस के प्रवाह में बीच में विकल्प नहीं आता। विकल्प तो ज्ञानप्रवाह में भिन्न का भिन्न बहार किनारे रहता है, वह ज्ञान में प्रविष्ट नहीं होता। विकल्प के किसी अंश का कर्तृत्व या वेदकता ज्ञानी के ज्ञान में नहीं रही। ज्ञानी का ज्ञान तो विकल्प से पार शांतरसरूप हुआ है। ऐसा ज्ञान वह भगवान के कहे हुए बारह अंगों का सार है। अहा, चैतन्य के आनंद का रस हमने चख लिया है। अब सांसारिक विषयों में हमारी परिणति नहीं

....शेष पृष्ठ 34 पर

विराग

[श्री शुभचंद्राचार्य तथा भर्तृहरि का एक प्रसंग]

इस नाम के धारक अनेक हो गये। 'ज्ञानार्णव' नामक महान ज्ञान-वैराग्यदर्शक ग्रंथ के प्रणेता के बार में कथा है, जो परम वीर थे, जिनको चैतन्यस्वरूप में विश्रांति द्वारा मुनिपद सुखरूप था, कायर को मिथ्या प्रतिभासवश जैनमुनिपद कठिन दु:खदाता भासित होता है किंतु अक्षय अनंत सुखरूप मोक्ष उनका कारण मोक्षमार्ग कभी भी दु:खरूप दु:खदाता नहीं हो सकता है। वैराग्य कई प्रकार के होते हैं।

1. राग-गर्भित, 2. द्वेष-गर्भित, 3. मोह-दु:ख गर्भित और चौथा नित्य भूतार्थ ज्ञायक स्वभावाश्रित ज्ञान-गर्भित वैराग्य है, जो उसी सच्चे ज्ञान वैराग्य की उपासनामय मुनिपद जिनको हठरहित होता है। [ऐसे मुनिराज को नित्य नमस्कार हो।]

अब कथा के अंश पढ़िये :—

1. शुभचंद्र थे बड़े और भर्तृहरि छोटे भाई थे, उनके पिता महाराजा थे। पिता इस कारण चिंता में थे कि ये दोनों पुत्र परम पराक्रमशील, तेजस्वी, शूरवीर हैं और मेरी नयी रानी और उनके पुत्र जो मुझे अत्यधिक प्रिय हैं किंतु नई रानी के पुत्र इतने शूरवीर भी नहीं हैं और मेरी इच्छा नई रानी के पुत्र को राज्य देकर रानी को संतुष्ट करने की है। एकदिन प्रसंग ऐसा हुआ कि—नवयुवक राजपुत्र खेल रहे थे; मंडप में लगे बड़े लोहे के स्तम्भ को गन्ने के (सांठे के) समान मोड़ दिया। यह अतिशय शरीरबल धारी पुत्रों को देखकर राजा को भय लगा कि ये दोनों पुत्रों का अस्तित्व भविष्य में मेरी इच्छापूर्ति में बाधक है—मंत्री को आज्ञा दी कि यह बड़े दो राजपुत्र हैं, उन्हें जंगल में ले जाओ, मार डालो। मंत्री ने राजा को समझाया, राजा ने जवाब दे दिया—राज्य की नीति में ऐसा होता है। मंत्री इस अनुचित बात को मन में धिक्कारते हुए बड़े दु:खी होकर राजपुत्रों को संसार की विषमता समझाते हैं कि—भैया, आप तो बड़ पुण्यवान शूरवीर हैं, किंतु धिक्कार है मोह को जो आपके पिता आपकी महानता-शूरवीरता को देखकर स्वार्थांध हो जल रहे

हैं, आपकी हत्या करने की मुझे आज्ञा दी है किंतु मेरे द्वारा ऐसा नहीं होगा, आप शीघ्र कहीं चले जायें, गुप्त भेष में ही रहना।

संसार की विषमता के उदाहरण का अनुभव करते ही दोनों भाई को वैराग्य हो गया, दोनों भाई अपनी-अपनी रुचि के अनुसार सुख की खोज में अलग-अलग निकल पड़े। जैन मुनियों में तो निष्परिग्रह दशा और अंतरंग में भेदविज्ञान की प्रवीणता से प्राप्त नित्यज्ञानानंदमयी ऐसा अंतरंग में प्रगट अति सूक्ष्म चैतन्यस्वभाव के आलंबन से जितेन्द्रियता और अतीन्द्रिय आत्मिक सुख ही होता है, जिसे शास्त्रीय भाषा में शुद्धोपयोगरूप-साधकदशारूप मुनिधर्म कहते हैं। भर्तृहरि को उस आत्मिक सुख और उनके साधन की श्रद्धा भी नहीं थी, अत: देह-इन्द्रियाँ और उनके विषयों में सुख मानने के भ्रम में थे, जैन साधु-परमेष्ठीपद में तो दु:ख है, ऐसे मिथ्या प्रतिभासवश, कुलिंगी जो अज्ञानी पंचाग्नितप द्वारा हिंसा में हिंसा न मानकर धर्म माननेवाले थे, उनकी संगति पाकर, उनके अनुयायी बनकर वहाँ सुख-सुविधा मानकर उनका भक्त बन गया।

शुभचंद्रजी को तो लोकोत्तर और पवित्र संयमित जीवन प्रिय था, किसी द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को इष्ट-अनिष्ट मानना या किसी से भय, या आशा रखना उसे जरा भी सम्मत नहीं था, वे तो निरंतर-नित्य निरंजन ज्ञानमय निजरूप का आदर, आश्रय चिंतन सहित सोचते जा रहे थे, अपने त्रैकालिक सत्त्व को दृष्टिपथ पर रखकर संसार की विषमता, अस्थिरता जानकर प्राणी को एकत्व-विभक्त, और उत्तम मंगल शरण है, स्वयंभू अपनी आत्मा— इस प्रकार सच्चे सुख के शोधक थे, निजशक्ति के बल से उनकी इतनी तैयारी हो चुकी थी जो यथाजातरूपधर जिनमुद्राधारी निस्पृह जिन मुनि को पा लिये, एकाकी आत्मरूप में मग्नरूप में दिगम्बर जैनमुनि को देखा तो हृदय गद्‌गद् आनंदविभोर हो गया, जैसे तृषातुर को पवित्र जल की प्राप्ति, मोती बननेयोग्य सीप को स्वाति नक्षत में जलवर्षा मिले, उसी प्रकार शुभचंद्र ने वासना-विजयी, तत्त्वज्ञान और विवेकमूर्ति जैन साधु को निर्जंतु स्थान पर ध्यानमुद्रा में स्थित देखा—जिनमुनि का नाम था वंदनीय श्रुतसागर।

शुभचंद्र की आध्यात्मिकता को एक मौका दिया। उन्होंने एक विवेकी

बुद्धिमान की तरह उनके योग्य बनकर गुरु-उपासना द्वारा आत्मार्थी बनकर निज आत्महित का भरपूर लाभ उठाया।

शुभचंद्रजी ने श्रीगुरु के समीप श्रद्धा-ज्ञान और आचरण का बल विशेष प्रगट करने के लिये प्रार्थना की; भगवान! मुझे सब विषमताओं को नष्ट करनेवाली साधुपद के योग्य निर्ग्रंथ मुनिपद की दीक्षा देने का अनुग्रह कीजिये.... फिर थोड़े ही समय में शुभचंद्र राजपुत्र न रहकर, परम शांत, वैराग्य-मंडित, निर्लिप्त, निर्ग्रंथ साधु परमेष्ठी की श्रेणी में जा बैठे— 'विषयाशावशातीतो निरारंभोऽपरिग्रहः, ज्ञान ध्यान तपोरक्तः तपस्वी सः प्रशस्यते।' बस अब अखंड ज्ञानचेतना के स्वामित्व उपरांत स्वरूप में विश्रांतिरूप विशेष स्वरूपाचरण चारित्रधारा में हमारे आराध्य योगिराज शुभचंद्र (पवित्र-धवल) अखंडित प्रतापवंत ज्ञान-वैराग्यय उज्ज्वल आराधना में लवलीन रहते थे। कितनी ऋद्धि-सिद्धियाँ प्राप्त हैं, कभी उस पर उपयोग लगाया नहीं था धन्य अवतार... कहा है कि—

जिनको काल ही किंकर हो रहा!
मृगतृष्णा सम त्रैलोक, जीना धन्य उन्हीं का।
आशा-दासी पिशाची हो रही, काम क्रोध सो बंदी लोग।
जीना धन्य मुनिवर का॥
रिद्धि-सिद्धियाँ दासी हो रही, ब्रह्मानंद हृदय ने समाय।
जीवन धन्य उन्हीं का॥
मानो संत सलोने उन्हीं को, अन्य मातृ उदर-भार।
जीना धन्य उन्हीं का॥
प्रतिबन्धरहित मुनिराज है, नहिं कायर का 'यह' काम।
जीना है धन्य आपका॥

वास्तव में शुभचंद्रजी अब ऋद्धिधारक दिगम्बर मुनि मुनि थे।

भर्तृहरि-जिसको अनित्य जुगनूवत् मोहगर्भित वैराग्य था। दुनिया के

अरुचिकर-संघर्ष, विषयों में इष्ट-अनिष्ट प्रतिभास और विषादमय घटनाओं को सोचता-विचारता बहुत जगह घूमा; खान-पान, थकान, स्नान, आराम-विश्राम को याद करने लगे, देह के प्रति ममता विशेषरूप से जाग उठी, क्षुधा आदि के प्रश्न हल करने में चिंति हो उठा, कन्दमूल-फल जो हाथ लगे, उनका उपभोग करने लगे, अनछना पानी जो जलजंतु से परिपूर्ण होते हैं पीने लगा, फिर भी चाह-तृष्णा ज्यों की त्यों बनी रही। सघन वन में घूमते हुये भर्तृहरि ने देखा कि चारों ओर आग जलाकर बीच में मस्तक पर बड़ी-बड़ी जटाओं को धारण करनेवाले एक तपस्वी उच्च सिंहासन पर विराजे-पंचाग्नितप तप रहे हैं, वंदन नमस्कार करके आश्रय देने की प्रार्थना की, तापसी ने राजकुमार है, ऐसा जानकर प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार किया - कई वर्षों के पश्चात् भर्तृहरि यंत्र-मंत्रादि वनस्पति रसायन विद्या का जानकर होकर गुरु से पृथक् हो गये और सुवर्ण बनाने की रसकुप्पी तैयार की, जनरंजन के लिये भक्त समाज जुट गये, एक दिन अपने भ्राता श्री शुभचंद्र की याद आई, शिष्यों को उनकी खोज में भेजा गया, बहुत खोज के पश्चात समाचार आया कि भैया तो नग्न दिगम्बर ही हैं। घोर दरिद्रता दिख रही है, वस्त्र का टुकड़ा भी नहीं और न भोजन के कोई साधन हैं, भक्तगण भी उनकी व्यवस्था में नहीं हैं। बड़े कष्ट में हैं, ऐसा प्रत्यक्ष देखकर आया हूँ (नोंध - देखो संयोग में निमित्त में एकत्वबुद्धिवान जीव देह और आत्मा को एक मान रहे हैं, उसे निर्ग्रंथ वीतरागता क्या है ? जरा भी पता नहीं होता। जैन मुनि अशरण अनाथ दु:खी कभी नहीं है, इच्छा ही दु:ख है, दु:ख का अभाव ही सुख है, मुनि को तो अपने अंतरंग में प्रगट अति सूक्ष्म चैतन्यस्वभाव में एकाग्रता के बल से परम अतीन्द्रिय महान सुख है, जो अंतर्दृष्टिग्राह्य है; अज्ञानी ऐसा न मानकर अपनी देहात्मबुद्धि द्वारा बाह्य वस्तु के संयोग-वियोग में इष्ट-अनिष्ट मानकर अपने को सुखी मानता है। अत: वह मिथ्या प्रतिभास ही संसार है, दु:ख है।)

क्रमश:

परमपूज्य सद्गुरुदेवश्री के प्रवचन महासागर में से चुने हुए

महासागर के मोती

1. जो जीव परपदार्थों में ममत्व नहीं करता, वही संसार बन्धन से छूट सकता है।
2. पुण्य-पाप के विकारी भाव और उनके फलस्वरूप संयोगी नाशवान पदार्थों की प्राप्ति के प्रति जिसे आदर है, उसे आत्मा के नित्य अविकारी स्वभाव के प्रति आदर नहीं हो सकता।
3. परवस्तु का क्षेत्रान्तर, भावान्तर अथवा अवस्थान्तर होना त्रिकाल में भी किसी के आधीन नहीं है।
4. परपदार्थ की ओर लक्ष्य का होना, सो राग है।
5. निराकुल सुख आत्मा में है, संयोगों में सुख नहीं है। फिर भी अज्ञानी जीव उनमें सुख मान रहा है। पर के आश्रय की पराधीनता ही दु:ख है।
6. पंचेन्द्रियों के विषयों में अच्छे या बुरे भाव से राग करके उनमें जम जाना, सो परमार्थ से भाव बन्धन है।
7. जिस प्रकार चक्रवर्ती कटोरा लेकर भीख माँगे, दूसरे की आशा रखे और पराश्रय को ढूंढ़े तो वह उसे शोभा नहीं देता; उसी प्रकार जो जीव, आत्मा के उत्कृष्ट स्वभाव को भूलकर पर की आशा करता है, पर की सहायता चाहता है, वह उसे शोभा नहीं देता।
8. आत्मा अरूपी, ज्ञातास्वरूप है; उसे किसी पर का कर्ता मानना, सो देहदृष्टि का अज्ञान है।
9. मैं पर का कर सकता हूँ, और पर मेरा कर सकता है, इस प्रकार की मान्यता मिथ्यात्व है।
10. मोक्ष का कारण वीतरागता; वीतरागता का कारण अरागी चारित्र; चारित्र का कारण सम्यग्ज्ञान और सम्यग्ज्ञान का कारण सम्यग्दर्शन है।

11. जीव अपने सहज स्वरूप की सम्हाल करे तो एक क्षण में सर्व-दु:खों का नाश हो जाए।
12. जहाँ-जहाँ ज्ञान है, वहाँ-वहाँ मैं हूँ, इस प्रकार का दृढ़भाव सम्यक्त्व है।
13. परिणाम ही संसार और परिणाम ही मोक्ष है, इसलिए समय-समय पर परिणामों की जाँच करो।
14. जब तक विस्मय करनेवाले का (आत्मा का) विस्मय नहीं होता, तब तक पर का विस्मय दूर नहीं होता।
15. आत्मा त्रिकाल परिपूर्ण है, इस प्रकार का विश्वास जब तक नहीं होता, तब तक पर की एकत्वबुद्धि दूर नहीं होती।
16. अनन्त प्रतिकूलताओं के होते हुए भी अनन्त एकाग्रता हो सकती है।
17. चार अघातिया कर्म संयोग के दाता हैं; ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी और अन्तराय कर्म आत्मा में कमी उत्पन्न करते हैं और मोहनीय कर्म आत्मा में विरुद्धता उत्पन्न करता है। मैं इन आठों कर्मस्वरूप नहीं हूँ, मैं तो मात्र ज्ञायक हूँ।
18. मैं राग को छोड़ दूँ, इस प्रकार का भाव भी शुभ है; किन्तु त्रिकाली शुद्ध आत्मस्वभाव पर दृष्टि ड़ालने से रागादि छूट जाते हैं, सो निर्जरा है।
19. निश्चय का विषय त्रैकालिक स्वभाव है, व्यवहार का विषय वर्तमान शुभाशुभ विकारी भाव है। जिनवर का कहा हुआ व्यवहार भी परिपूर्ण है और उसे परिपूर्णतया अभव्य भी करता है। किन्तु उसकी दृष्टि परावलम्बी है। त्रैकालिक स्वावलम्बी स्वभाव पर उसकी दृष्टि नहीं है। शुभभाव पर दृष्टि होने से वह पुण्य बाँधता है, किन्तु आत्मा का स्वभाव बिल्कुल प्रगट नहीं होता।
20. जहाँ स्वरूप का भोक्ता होना चाहिए, वहाँ अभव्य जीव, रागादि शुभ-परभाव को भोगता है। इसलिए वह उस भोग के निमित्तरूप पुण्य की श्रद्धा करता है।

21. जब एक पदार्थ को दूसरे पदार्थ की आवश्यकता होती है, तब वह पदार्थ पराधीन हुआ कहलाता है; आत्मा को परवस्तु की आवश्यकता का होना ही पराधीनता का दु:ख है।
22. विकारी अथवा अविकारी अवस्था मुझमें नहीं है, मैं तो त्रैकालिक शुद्धस्वरूप हूँ, परिपूर्ण हूँ, उसके ऊपर लक्ष्य देने पर मोक्ष दूर नहीं है। उससे विपरीत भाववाले के बन्धन दूर नहीं है अर्थात् वह प्रति समय बंधता ही रहता है।
23. पुरुषार्थ की जागृति में जो पुण्यबन्ध हो जाता है, उसके योग से अनुकूल निमित्त मिले बिना नहीं रहता। इसलिए पुरुषार्थ की भावना होनी चाहिए, निमित्त की नहीं।
24. निमित्त की भावना को भानेवाला विकार को ही भाता है और स्वभाव को भानेवाला वीतरागता को ही भाता है।
25. ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध को एकरूप मानना, सो अभिप्राय की भूल है और वही बन्ध का कारण है। जो रागादिक हैं, वे ज्ञेय हैं; इसलिए उनके जानने पर ज्ञान की विशालता होती है, इस प्रकार ज्ञानी मानता है। तब अज्ञानी यह मानता है कि रागादिक मेरे हैं। कर्म मेरे आत्मज्ञान को रोकते हैं, यहाँ दृष्टि का अन्तर है।
26. स्वभाव में भव का भाव नहीं है। जो स्वभाव को अपना मानता है, उसे भव की शंका नहीं होती। जो भव के भाव को अपना मानता है, उसके भव होता है।
27. मैं किसी परद्रव्य की अवस्था को नहीं कर सकता—यदि ऐसी मान्यता कर ले तो अनन्त शान्ति प्राप्त हो जाए।
28. दृष्टि का विषय अभेद, अबन्ध, अखण्ड द्रव्य है; वह पर्याय, विकल्प या निमित्त को स्वीकार नहीं करती।
29. पंच महाव्रतादि के पालन का शुभभाव भी वीतरागचारित्रभाव में

विषतुल्य है क्योंकि वह अमृत-आत्मा में बाधक हैं, मोक्ष में विघ्नरूप है।

30. सम्यग्दृष्टि का भव न तो बिगड़ता है और न भव बढ़ता है।

31. वाणी पर का परिणमन है, यह न मानकर मैं बोल सकता हूँ अर्थात् पर का परिणमन मेरे द्वारा होता है, यों मान बैठना सो मिथ्यादर्शन शल्य अनन्त पाप है। मैं वाणी बोलने के भाव के बराबर ही (विकारी भाववाला) हूँ; इस प्रकार की मान्यता हुई कि अविकारी शुद्ध स्वभाव का अनादर हुआ और यही अनन्त हिंसा है। ★

[आत्मधर्म (हिन्दी), अंक-12, वर्ष-1]

मङ्गलायतन के सम्बन्ध में जानकारी

फार्म नं० 4, नियम नं० 8

पत्रिका का नाम	:	*मङ्गलायतन* (हिन्दी)
प्रकाशन अवधि	:	मासिक
प्रकाशक का नाम	:	पवन जैन (भारतीय)
पता	:	'विमलांचल', हरिनगर, अलीगढ़ (उत्तरप्रदेश)
सम्पादक का नाम	:	पण्डित संजयकुमार जैन (भारतीय)
पता	:	उपरोक्त
मुद्रक का नाम	:	पवन जैन (भारतीय)
पता	:	उपरोक्त
मुद्रण का स्थान	:	*मङ्गलायतन* मुद्रणालय, आगरा रोड, अलीगढ़ - 202001
स्वामित्व	:	पवन जैन, 'विमलांचल', हरिनगर, अलीगढ़ (उत्तरप्रदेश)

मैं पवन जैन एतद् द्वारा घोषणा करता हूँ कि मेरी अधिकृत जानकारी एवं विश्वास के अनुसार उपुर्यक्त विवरण सत्य हैं।

पवन जैन

दिनाङ्क : 01.04.2019 प्रकाशक

आचार्यदेव परिचय शृंखला

भगवान आचार्यदेव
श्री प्रभाचन्द्राचार्य (द्वितीय)

'प्रभाचन्द्र' नामक कई आचार्य हुए हैं, उसमें आप ई. की 7वीं शताब्दी के आचार्य हैं। वैसे आपका जीवन विशेष अधिक परिचित नहीं है, और कहीं विशेष नाम-उल्लेख भी नहीं आता। परन्तु आपने अपने जीवन काल में एक नवीन ही 'तत्त्वार्थसूत्र' की रचना की है। यद्यपि इसमें श्रुतधर आचार्य गृद्धपिच्छस्वामी के तत्त्वार्थसूत्र का अनुसरण तो है ही, परन्तु सूत्र रचना संक्षिप्त व अन्य आचार्यों की अन्य रचनाओं के आधार से विशेष स्पष्टता सह है। कहीं-कहीं उमास्वामी के तत्त्वार्थसूत्र से आधिक्यता भी प्रतीत होती है।

इस 'तत्त्वार्थसूत्र' का गहरा अवलोकन करने से यह भी ज्ञात होता है, कि आपने 'अर्हत्प्रवचन' का अवलोकन कर ही यह रचना बनायी है।

आपका अपरनाम 'बृहद्प्रभाचन्द्र' के रूप में भी प्रसिद्ध है।

आप ई.स. की सातवीं शताब्दी उत्तरार्ध के आचार्य थे।

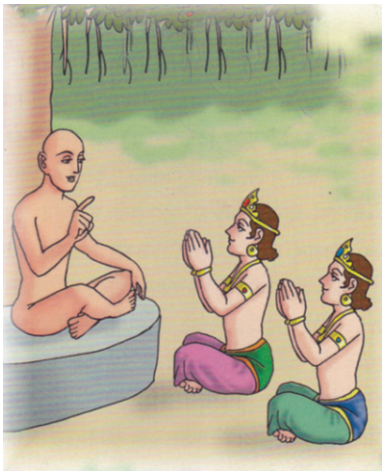

शिष्यों को उपदेश देते
आचार्य प्रभाचन्द्र (द्वितीय)

आचार्यदेव प्रभाचंद्र (द्वितीय) को कोटि कोटि वंदन।

भगवान आचार्यदेव
श्री अकलंक भट्ट

जैन साहित्य के अद्वितीय कार्य करने के पश्चात् भी प्रसिद्धि से दूर रहते हुए, निज आत्मा की आराधना में निरत रहते, जैन न्यायशास्त्र के सूर्यरूप भट्ट अकलंकदेव को कोई भी जैन, स्मरण किए बिना नहीं रहता।

वैसे तो भगवान समन्तभद्राचार्यदेव जैन न्याय के संस्थापकरूप में अति प्रसिद्ध हैं। फिर भी अकलंकदेव भी उसी भाँति जैन न्याय के संस्थापकरूप में बहुत प्रसिद्ध हैं। आपके पश्चात्वर्ती उच्चकोटि के आचार्यवर अनन्तवीर्य, विद्यानन्दि, आचार्य, वादिराज आचार्य तथा प्रभाचन्द्र आचार्य जैसे जैन वाङ्मय के न्याय विषयक ग्रन्थों के रचयिता प्रकाट्य विद्वद्वर्यों ने भी आपकी भूरी-भूरी प्रशंसा सह आपको स्मरण किया है। इतना ही नहीं, आपके गूढ़ न्यायों के भाव खोलने में स्वयं की असमर्थता भी प्रदर्शित की है।

आपके बारे में विविध ग्रन्थों में विविध कथानक मिलते हैं, उनमें से कतिपय उल्लेख निम्न प्रकार हैं, जिससे आपके सम्बन्ध में कुछ-कुछ प्रकाश पड़ता है। जैसे :—

(1) आराधनाकथाकोष में बताया है कि 'मान्यखेट के राजा शुभतुंग थे। उनके मन्त्री का नाम पुरुषोत्तम था। पद्मावती उनकी पत्नी थी। पद्मावती के गर्भ से दो पुत्र उत्पन्न हुए—अकलंक और निष्कलंक।

(2) आचार्यदेव प्रभाचन्द्र के शब्दकोष में आपकी कथा देते हुए लिखा है कि एकबार अष्टाह्निका पर्व के अवसर पर आपके माता-पिता अपने पुत्र अकलंक और निष्कलंक सहित मुनिराज के पास दर्शन गये। धर्मोपदेश श्रवण करने के पश्चात् उन्होंने आठ दिनों के लिए ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण किया और पुत्रों को भी ब्रह्मचर्यव्रत दिलाया। जब दोनों भाई वयस्क हुए और माता-पिता ने उनका विवाह करना चाहा, तो उन्होंने मुनि के समक्ष

ली गयी प्रतिज्ञा याद दिलायी और विवाह करने से इंकार कर दिया। पिता ने पुत्रों को समझाते हुए कहा, कि 'यह व्रत तो केवल आठ दिनों के लिये ही ग्रहण किया गया था। अत: विवाह करने में कोई भी रुकावट नहीं है।' पिता के उक्त वचनों को सुनकर पुत्रों ने उत्तर दिया—'उस समय, समय-सीमा का जिक्र नहीं किया गया था। अत: ली गयी प्रतिज्ञा तोड़ी नहीं जा सकती।'

पिता ने पुन: कहा—'वत्स! तुम लोग उस समय अबुध थे। अत: ली गयी प्रतिज्ञा में समय-सीमा का ध्यान नहीं रखा। वहाँ लिए गए व्रत का आशय केवल आठ दिनों के लिए ही था, जीवन-पर्यन्त के लिए नहीं। अतएव विवाह कर तुम्हें हमारी इच्छाओं को पूर्ण करना चाहिए।'

पुत्र बोले—'पिताजी! एक बार ली गई प्रतिज्ञा तोड़ी नहीं जा सकती। अत: यह व्रत तो जीवनपर्यंत के लिए है। विवाह करने का अब प्रश्न ही नहीं उठता।'

पुत्रों की दृढ़ता को देखकर माता-पिता को आश्चर्य हुआ। पर वे उनके अभ्युदय का ख्यालकर उनका विवाह करने में समर्थ न हुए। अकलंक और निष्कलंक ब्रह्मचर्य से साधना करते हुए विद्याध्ययन करने लगे।

(3) आराधना कथाकोष अनुसार उस समय बौद्धधर्म का सर्वत्र प्रचार था व युवावस्था होने पर पुत्रों ने विवाह करने से इंकार कर दिया तथा वे दोनों भाई विद्याध्ययन में संलग्न होने हेतु महाबोधि-विद्यालय में बौद्ध-शास्त्रों का अध्ययन करने लगे।'

एक दिन गुरुमहोदय शिष्यों को सप्तभंगी समझा रहे थे, पर पाठ अशुद्ध होने के कारण वे उसे ठीक नहीं समझा सके। गुरु के कहीं चले जाने पर, अकलंक ने उस पाठ को शुद्ध कर दिया। इससे गुरुमहोदय को शिष्यों में कोई शिष्य जैन होने का सन्देह हुआ। कुछ दिनों में उन्होंने अपने प्रयत्नों द्वारा उनको जैन प्रमाणित कर लिया। दोनों भाई कारागृह में बन्द कर दिए गए। रात्रि के समय दोनों भाईयों ने कारागृह से निकल जाने का प्रयत्न किया। वे अपने प्रयत्न में सफल भी हुए और कारागृह से निकल भाग।

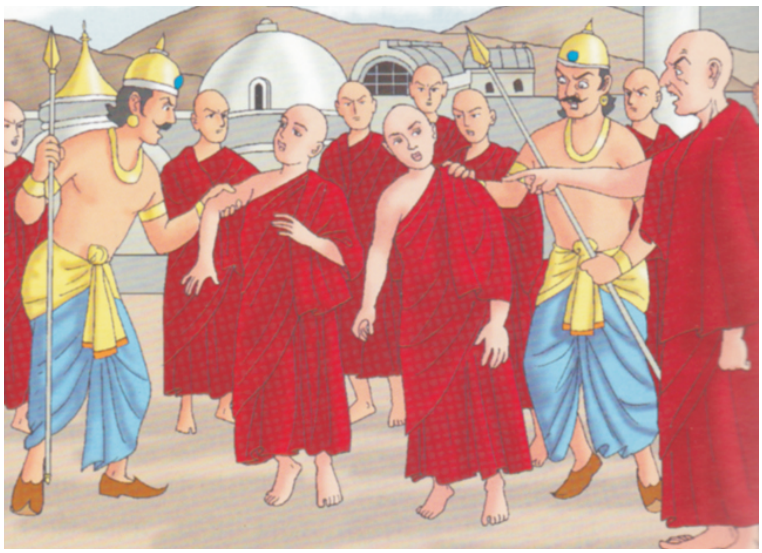

बौद्ध विद्यालय में अकलंक व निकलंक ही मात्र जैनधर्मी हैं,
ऐसा बौद्ध साधुओं को पता लगने पर उन्हें पकड़कर जेल में डालना

प्रात: काल ही बौद्ध गुरु को उनके भाग जाने का पता चला। उन्होंने चारों ओर घुड़सवारों को दौड़ाकर दोनों भाईयों को पकड़ लाने का आदेश दिया।

घुड़सवारों ने उनका पीछा किया। कुछ दूर आगे चलने पर दानों भाईयों ने अपने पीछे आनेवाले घुड़सवारों को देखा और अपने प्राणों की रक्षा न होते देख अकलंक निकट के एक तालाब में कूद पड़े और कमलपत्रों से अपने आपको आच्छादित कर लिया। निष्कलंक भी प्राणरक्षा के लिए शीघ्रता से भाग रहे थे। उन्हें भागता देख तालाब का एक धोबी भी भयभीत होकर साथ-साथ भागने लगा। घुड़सवार निकट आ चुके थे। उन्होंने दोनों को शीघ्रता से पकड़ लिया और उनका वध कर डाला। घुड़सवारों के चले जाने पर, अकलंक तालाब से निकल निष्कलंक और निर्दोष धोबी को मरा देख दु:खित हो भ्रमण करने लगे।

(4) कलिंग देश के रतनसंचयपुर का राजा हिमशीतल था। उनकी रानी मदनसुन्दरी जिनधर्म की भक्त थी। वह बड़े उत्साह के साथ जैनरथ

निकालना चाहती थी। किन्तु बौद्ध गुरु जैन रथ निकलने देने के पक्ष में नहीं थे। उनका कहना था, कि कोई भी जैन विद्वान जब तक मुझे शास्त्रार्थ में पराजित नहीं कर देगा, तब तक जैन रथ नहीं निकाला जा सकता है। गुरु के विरुद्ध राजा कुछ नहीं कर सकता था। बड़े धर्मसंकट का समय उपस्थित था। जब अकलंकदेव को यह समाचार मिले, तो वे राजा हिमशीतल की सभा में गये और बौद्ध गुरु को शास्त्रार्थ करने को कहा। अकलंकदेव बाहर व बौद्धगुरु पर्दे के अन्दर रहकर दोनों के बीच कुछ समय तक शास्त्रार्थ होता रहा। अकलंकदेव को इस शास्त्रार्थ से बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने इसका रहस्य जानना चाहा। उन्हें शीघ्र ज्ञात हो गया, कि बौद्ध गुरु के स्थान पर, पर्दे के अन्दर घड़े में बैठी बौद्धदेवी 'तारा' शास्त्रार्थ कर रही है। उन्होंने पर्दे को खोलकर घड़े को फोड़ डाला। 'तारा' देवी भाग गयी और बौद्धगुरु पराजित हुए। खूब धामधूम से जैन रथ निकाला गया और जैनधर्म का महत्त्व प्रकट हुआ।

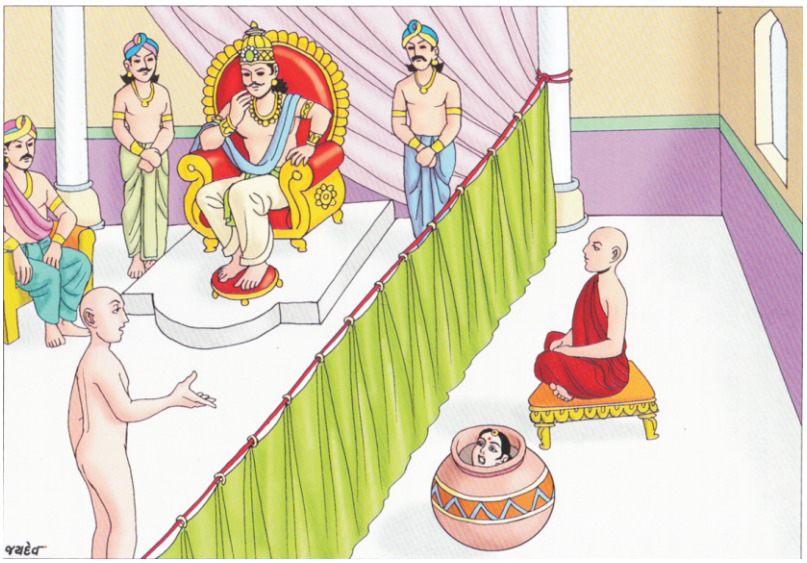

हिमशीतल की सभा में पर्दे पीछे रहकर, तारादेवी को साधकर बौद्धगुरु,
श्री अकलंक आचार्य से वाद-विवाद करते हैं।

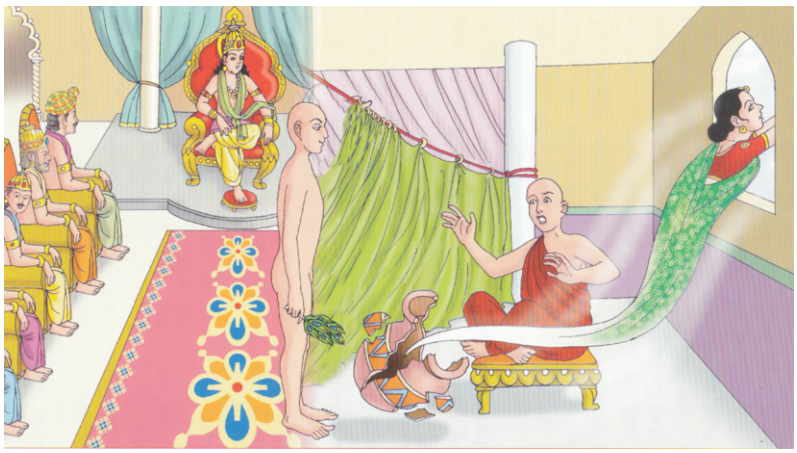

तारादेवी द्वारा बौद्धगुरु को चर्चा करते हुए जानकर श्री अकलंक आचार्य द्वारा तारादेवी की मटकी फूटना, तारादेवी का भागना एवं बौद्धों का हारना

(5) 'राजावलिकथे' में भी उक्त कथा प्राय: समान रूप में मिलती है। अन्तर इतना ही है कि कांची के बौद्धों ने हिमशीतल की सभा में जैनों से इसी शर्त पर शास्त्रार्थ किया, कि हारने पर उस सम्प्रदाय के सभी मनुष्य कोल्हू में पिलवा दिये जाएँगे। इस कथा के अनुसार यह शास्त्रार्थ 17 दिनों तक चला। अकलंक को कुसुमाण्डिनी देवी ने स्वप्न में दर्शन देकर कहा, कि तुम अपने प्रश्नों को प्रकारांतर से उपस्थित करने पर जीत सकोगे। अकलंक ने वैसा ही किया और वे विजयी हुए। बौद्ध कोल्हू में पिलवा दिए जाने के भय से कलिंग से सिलोन (लंका) चले गए।

(6) अकलंक मान्यखेट के राजा, शुभतुंग के मंत्री पुरुषोत्तम के पुत्र थे। 'राजावलिकथे' में इन्हें कांची के जिनदास नामक ब्राह्मण का पुत्र कहा गया है। पर तत्त्वार्थवार्तिक के प्रथम अध्याय के अन्त में उपलब्ध प्रशस्ति में ये लघुहव्व नृपति के पुत्र प्रतीत होते हैं।

ये लघुहव्वनृपति कौन हैं और किस प्रदेश के राजा थे, हम इस पर से या अन्य कहीं से ज्ञात नहीं होता। नाम से इतना प्रतीत होता है, कि वे दक्षिण के होने चाहिए और उसी क्षेत्र के वे नृपति रहे होंगे।

आपने किनसे व कब दीक्षा ग्रहण की थी, वह कथानक प्राप्त नहीं हुआ, फिर भी आप अति प्रशंसनीय, विद्वतायुक्त भावलिंगी आचार्य भगवन्त थे, इसमें दो मत नहीं है।

उपर्युक्त कथानकों से यह स्पष्ट है, कि भगवान अकलंकदेव वादक्षेत्र में दिग्विजयी शास्त्रार्थी विद्वान थे तथा राष्ट्रकूटवंशी राजा साहसतुंग की सभा में उन्होंने सम्पूर्ण बौद्ध विद्वानों को पराजित किया। कांची के पल्लवीवंशी राजा हिमशीतल की राजसभा में आपने अपूर्व विजय प्राप्त की थी। इसी कारण आचार्य भगवंत विद्यानन्दिदेव ने आपको सकलतार्किकचूड़ामणि कहा है।

आपके शिष्य का नाम महादेव भट्टारक था। उनके बारे में विशेष कोई जानकारी नहीं मिलती है।

आपने न्याय विषयक अनेक ग्रन्थों की रचना की है। आपके

(1) लधीयस्त्रय (स्वोपज्ञवृत्तिसहित), (2) न्यायविनिश्चय, (3) सिद्धिविनिश्चय (सवृत्ति), (4) प्रमाणसंग्रह (सवृत्ति), (5) तत्त्वार्थवार्त्तिक (सभाष्य), (6) अष्टशती-(देवागमविवृत्ति)।

आपका समय ई. स. 620 से 680 के बीच का होना ही विद्वानों को स्वीकार है।

न्यायशास्त्र के सूर्यरूप आचार्य अकलंकदेव को कोटि-कोटि वन्दन।

—: सूचना :—

तीर्थधाम मङ्गलायतन में द्वारा हुए कार्यक्रमों VCD / MP3 को आप द्वारा देख सकते हैं:—

आप Computer में Youtube पर MANGALAYATAN JAIN MANDIR सर्च करे, उसमें तीर्थधाम मङ्गलायतन पंचकल्याणक 2003; मङ्गलायतन विश्वविद्यालय पंच - कल्याणक 2010; मंगल बोधि VCD; मंगल कथा VCD; धन्य मुनिदशा VCD; मङ्गलायतन - एक आह्वान (परिचय); मुनि सुकुमाल कथा; महावीर पूजन आदि आप देख सकते हैं / DOWNLOAD कर सकते हैं।

उपदेश सिद्धांत रत्नमाला

जिनाज्ञा में रत ही हमारे धर्मार्थ गुरु हैं

अम्हाण रायरोसं, कस्सुवरिं णत्थि अत्थि गुरु विसये।
जिणआणरया गुरुणो, धम्मत्थं सेस वोस्सरिमो॥१०४॥

भावार्थ - यदि कोई कहे कि तुम्हारे राग-द्वेष है इसलिए तुम ऐसा उपदेश देते हो तो उनको कहा गया है कि 'किसी लौकिक प्रयोजन के लिये हमारा उपदेश नहीं है, केवल धर्म के लिये ही सुगुरु और कुगुरु के ग्रहण-त्याग कराने का हमारा प्रयोजन है, क्योंकि सुगुरु-कुगुरु सम्यक्त्व और मिथ्यात्व के मूल कारण हैं' ॥१०४॥

जिनवचनों से मंडित सब ही गुरु हैं

णो अप्पणा पराया, गुरुणो कइ आवि हुंति सद्धाणं।
जिणवयण-रयण-मंडण, मंडिय सव्वे वि ते सुगुरु॥१०५॥

भावार्थ - इस कलिकाल में कई जीव ऐसा मानते हैं कि अमुक गच्छ के या अमुक सम्प्रदाय के तो हमारे गुरु हैं, शेष दूसरों के गुरु हैं हमारे नहीं सो ऐसा एकान्त जिनमत में नहीं है। जिनमत में तो पंच महाव्रत और अट्ठाईस मूलगुण रूप यथार्थ आचरण के जो धारी हैं वे सब ही गुरु हैं ॥१०५॥

सज्जनों की संगति की बलिहारी है

बलि किज्जामो सज्जण, जणस्स सुविसुद्ध पुण्णजुत्तस्स।
जस्स लहु संगमेण वि, सुधम्म-बुद्धि समुल्लसइ॥१०६॥

भावार्थ - यदि मिथ्यात्व रहित सम्यक्त्वादि धर्म बुद्धि उल्लसित करने की तुम्हारी इच्छा हो तो साधर्मी विशेष ज्ञानीजनों की संगति करो क्योंकि संसार में संगति से ही गुण-दोषों की प्राप्ति देखने में आती है ॥१०६॥

गुणवान गुरुओं का सद्भाव आज भी है

अज्ज वि गुरुणो गुणिणो, सुद्धा दीसंति लडयडा केवि।
पहु जिणवल्लह सरिसो, पुणो वि जिणवल्लहो चेव॥१०७॥

भावार्थ – यहाँ कोई कहता है कि ''इस क्षेत्र में और इस काल में मुनि तो दिखाई नहीं देते फिर 'आज भी जिनवल्लभ मुनि हैं'—ऐसा वचन कैसे कहा ?''

इसका उत्तर है कि 'यह वचन सिर्फ तुम्हारी ही अपेक्षा से तो है नहीं, वचन तो सबकी अपेक्षा है। तुम्हें अपने तुच्छ ज्ञान में यदि मुनि का सद्भाव नहीं दिखता तो इससे कोई सर्वत्र उनका अभाव नहीं कहा जा सकता, किसी न किसी पुरुष को तो वे प्रत्यक्ष होंगे ही क्योंकि दक्षिण देश में आज भी मुनियों का सद्भाव शास्त्र में कहा गया है' ॥१०७॥

सुगुरु के उपदेश से भी किन्हीं के सम्यक्त्व नहीं

वयणे वि सुगुरु जिण, वल्लहस्स केसिं ण उल्लसइ सम्मत्तं।
अह कह दिणमणि तेअं, अलुआणं हरइ अंधत्तं॥१०८॥

भावार्थ – जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश हो जाने पर भी उल्लुओं का अन्धत्व नष्ट नहीं होता उसी प्रकार सद्गुरु के वचनरूपी सूर्य का तेज मिलने पर भी जिनका मिथ्यात्व अन्धकार नष्ट नहीं होता वे जीव उल्लू जैसे ही हैं। जिनकी होनहार भली नहीं है, उनको सुगुरु का सदुपदेश कभी रुचता नहीं है किन्तु विपरीत ही भासित होता है ॥१०८॥

अज्ञानियों के ढीठपने को धिक्कार है

तिहुवण जणं मरंतं, दिट्ठूण णिअंति जे ण अप्पाणं।
विरमंति ण पावाओ, धिद्धी धिट्ठत्तणं ताणं॥१०९॥

भावार्थ – संसार में पर्यायदृष्टि से देखने पर कोई भी पदार्थ स्थिर नहीं है। अत: शरीरादि के लिये वृथा पाप का उपार्जन करके आत्मा का कल्याण नहीं करना–यह बड़ी मूर्खता है ॥१०९॥

अत्यंत शोक से नरक गमन होता है

सोएण कंदिऊणं, कट्टेऊणं सिरं च उर ऊरं।
अप्पं खिवंति णरए, तं पि हु धिद्धी कुणेहत्तं॥११०॥

अर्थ – जो जीव नष्ट हुए पदार्थों का शोक करके ऊँचे स्वर से क्रन्दन

करके रोते हुए सिर और छाती कूटता है, वह अपनी आत्मा को नरक में पटकता है, उसके ऐसे कुस्नेह को भी धिक्कार है ॥११०॥

शोक करना सर्वथा दु:खदायी है

एगं पि य मरण दुहं, अण्णं अप्पा वि खिप्पए णरए।
एगं च माल-पडणं, अण्णं च लठेण सिरघाओ॥१११॥

भावार्थ - बीती हुई पर्याय वापिस नहीं आती—ऐसा वस्तुस्वरूप है अत: शोक करना वृथा है। एक तो वह वर्तमान में दु:खरूप है और दूसरे आगामी काल में नरकादि दु:खों का कारण है। शोक में कुछ सार नहीं है॥१११॥

आज धर्मार्थी सुगुरु व श्रावक दुर्लभ हैं

संपइ दूसमकाले, धम्मत्थी सुगुरु सावया दुलहा।
णाम गुरु णाम सावय, सरागदोसा बहू अत्थि॥११२॥

भावार्थ - इस निकृष्ट काल में धर्मार्थी होकर धर्म का सेवन करना दुर्लभ है। लौकिक प्रयोजन के लिये धर्म का सेवन करनेवाले बहुत हैं सो नाम मात्र सेवन करते हैं। धर्म सेवन से जिस वीतराग भाव की प्रापित होती है, वह उन नामधारी धर्मात्माओं को कभी नहीं हो सकती सो ऐसे जीव बहुत ही हैं॥११२॥

शुद्ध धर्म से धन्य पुरुषों को ही आनन्द

कहियं पि सुद्ध धम्मं, काहि वि धण्णाण जणइ आणंदं।
मिच्छत्त-मोहियाणं, होइ रइ मिच्छधम्मेसु॥११३॥

अर्थ - जिनेन्द्र भगवान द्वारा कहा गया जो शुद्ध जिनधर्म का स्वरूप है, वह अनेक भाग्यवान-धन्य जीवों को आनन्दित करता है किन्तु जो मिथ्यात्व से मोहित जीव हैं, उनकी प्रीति मिथ्याधर्म में ही होती है॥११३॥

पाप को धर्म कहकर सेवन मत करो

इक्कं पि महादुक्खं, जिणवयण विऊण सुद्ध हिययाणं।
जं मूढा पावायं, धम्मं भणिऊण सेवंति॥११४॥

भावार्थ – कितने ही जीव व्रतादि का नाम करके रात्रिभोजनादि करते हैं अथवा तेरह प्रकार का चारित्र नाममात्र धारण करके अपने को गुरु मनवाकर पश्चात् विषय-कषाय सेवन में लग जाते हैं तथा धर्म के नाम पर हिंसादि पाँचों पापों में लवलीन हो जाते हैं—ऐसे जीवों की मूर्खता देखकर ज्ञानियों को करुणा उत्पन्न होती है ॥११४॥

जिनवचन में रमनेवाले विरल हैं

थोवा महाणुभावा, जे जिणवयणे रमंति संविग्गा।
तत्तो भव-भय-भीया, सम्मं सत्तीइ पालंति॥११५॥

भावार्थ – अनेक खोटे कारण मिलने पर भी जो अच्छी तरह से सम्यक् विचाररूप शक्ति प्रगट करके सत्यार्थ श्रद्धान से चलायमान नहीं होते ऐसे जीवों की बहुत दुर्लभता है ॥११५॥

सम्यक्त्व बिना सारा आचरण फलीभूत नहीं

सव्वंगं पि हु सगडं, जह ण चलइ इक्क वडहिला रहिअं।
तह धम्म-फडाडोवं, ण फलइ सम्मत्त-परिहीणं॥११६॥

अर्थ – जिस प्रकार प्रकटपने सर्व अंगों के विद्यमान होने पर भी एक धुरी बिना गाड़ी नहीं चलती, उसी प्रकार सम्यक्त्व के बिना धर्म का बड़ा आडम्बर भी फलीभूत नहीं होता इसलिए व्रतादि धर्म सम्यक्त्व सहित ही धारण करना योग्य है-यह तात्पर्य है ॥११६॥

साभार : उपदेश सिद्धान्त रत्नमाला

श्री पद्मनन्दि पंचविंशतिका

पद्मनंदी आचार्य विरचित 'श्री पद्मनन्दि पंचविंशतिका' ग्रन्थ का तीसरा संस्करण श्री कुन्दकुन्द दिगम्बर जैन स्वाध्याय मण्डल ट्रस्ट, नागपुर द्वारा प्रकाशित हो चुका है। सभी साधर्मियों से स्वाध्यायार्थ आवश्यक प्रतियों की संख्या सूचित करने का अनुरोध है। सहयोग राशि – 50 रुपये।

सम्पर्क सूत्र – **अशोककुमार जैन,** मंत्री,
श्री कुन्दकुन्द दिगम्बर जैन स्वाध्याय मण्डल ट्रस्ट, नागपुर;
मोबाइल – 07588740963

दृष्टि का विषय

वस्तु त्रिकाली है, जिसके आश्रय से निर्मल पर्याय होती है। पर्याय के आश्रय से पर्याय निर्मल नहीं हो सकती। गुरु के वचनप्रति लक्ष्य जाता है तब तक निमित्त, शास्त्र, गुरु और ज्ञान सब विनाशी; लेकिन ध्रुव की ओर नजर लगे तब ज्ञान अविनाशी होता है। अनुभव और सम्यग्दर्शन अवस्था है। उसको (सम्यग्दर्शन की पर्याय को) और आत्मा को त्रिकाली सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि वह (अवस्था) बदल जाती है। दर्शन, निमित्त का स्वीकार नहीं करता है, परन्तु बाद में उपचार से निमित्त कहने में आता है; पीछे से ज्ञान निमित्त को जानता है। दर्शन के समय निमित्त नहीं है। पीछे से निमित्त कहलाया। निमित्त को राग से जानता है, तब तक ज्ञान विनाशी-अनित्य है। वह (विनाशी ज्ञान) अविनाशी को लाभ करता नहीं। वह तो पूर्व का उघाड़ (क्षयोपशम) है। खुद ने ही जब स्वयं की ओर ढलकर निर्णय किया तब निमित्त कहने में आता है। जिस काल में अविनाशी ाान होता है, उस काल में निमित्त का सवाल (प्रश्न) ही नहीं रहता। निर्णय सामान्य के प्रति ढल गया, तत्काल संसार छूट गया। संसार छूटने का कारण द्रव्य स्वयं है। निर्णय होने के बाद निमित्त कहने में आता है। ध्रुवशक्ति साध्य है, मोक्ष साध्य नहीं है। मोक्ष प्रगट होता है। प्रगट-अप्रगट पर्यायदृष्टि में होता है। ध्रुव नित्य प्रगट है। प्रगट-अप्रगट का सवाल ही वस्तु में नहीं। प्रगट-अप्रगट अवस्था में है। वस्तु ध्रुव तो नित्य प्रगट ही है। साध्य वस्तु, साधन निर्णय (व्यवहार)। ध्रुव लक्ष्य में आने पर सहज निर्मल अवस्था प्रगटती है। पुरुषार्थ करना नहीं पड़ता, सहज हो जाता है। आश्रय पर्याय का कैसा? आश्रय स्वभाव का! ध्रुव और मोक्ष दोनों साध्य होने पर तो दो भंग पड़ जाएँ। दर्शन का विषय भंग (दो) नहीं है। सम्यग्दर्शन व केवलज्ञान खुल जाए सो निश्चय से आदरणीय नहीं है। साध्य-साधन का भेद निश्चय में है ही नहीं। भेद का जोर आवे तो अभेद पर जोर नहीं आता।

[गु. आत्मधर्म अंक 10-11 में से उद्धृत (हिन्दी अनुवाद)]

श्रीमद् राजचन्द्रजी द्वारा

शिक्षा पाठ 72 : बत्तीस योग

सत्पुरुष नीचे के बत्तीस योगों का संग्रह करके आत्मा को उज्ज्वल करने के लिए कहते हैं :—

1. 'शिष्य अपने जैसा हो इसके लिए उसे श्रुतादि का ज्ञान देना।'[1]
2. 'अपने आचार्यत्व का जो ज्ञान हो उसका दूसरे को बोध देना और उसे प्रकाशित करना।'[2]
3. आपत्तिकाल में धर्म की दृढ़ता का त्याग नहीं करना।
4. लोक-परलोक के सुख के फल की इच्छा के बिना तप करना।
5. जो शिक्षा मिली है, उसके अनुसार यत्ना से वर्तन करना; और नयी शिक्षा को विवेक से ग्रहण करना।
6. ममत्व का त्याग करना।
7. गुप्त तप करना।
8. निर्लोभता रखना।
9. परिषह-उपसर्ग को जीतना।
10. सरल चित्त रखना।
11. आत्मसंयम शुद्ध पालना।
12. सम्यक्त्व शुद्ध रखना।
13. चित्त की एकाग्र समाधि रखना।
14. कपटरहित आचार पालना।
15. विनय करनेयोग्य पुरुषों की यथायोग्य विनय करनी।
16. सन्तोष से तृष्णा की मर्यादा कम कर डालना।
17. वैराग्यभावना में निमग्न रहना।
18. मायारहित वर्तन करना।
19. शुद्ध करनी में सावधान होना।

1. द्वि. आ. पाठा.- 'मोक्षसाधक योग के लिए शिष्य आचार्य के पास आलोचना करे।'
2. द्वि. आ. पाठा.-'आचार्य आलोचना को दूसरे के पास प्रकाशित न करे।'

20. संवर को अपनाना और पाप को रोकना।
21. अपने दोषों को समभावपूर्वक दूर करना।
22. सर्व प्रकार के विषय से विरक्त रहना।
23. मूल गुणों में पंच महाव्रतों को विशुद्ध पालना।
24. उत्तर गुणों में पंच महाव्रतों को विशुद्ध पालना।
25. उत्साहपूर्वक कायोत्सर्ग करना।
26. प्रमादरहित ज्ञान व ध्यान में प्रवर्तन करना।
27. सदैव आत्मचारित्र में सूक्ष्म उपयोग से प्रवृत्त रहना।
28. जितेन्द्रियता के लिए एकाग्रतापूर्वक ध्यान करना।
29. मरणांत दु:ख से भी भयभीत नहीं होना।
30. स्त्री आदि के संग का त्याग करना।
31. प्रायश्चित्त से विशुद्धि करना।
32. मरणकाल में आराधना करना।

यह एक-एक योग अमूल्य है। इन सबका संग्रह करनेवाला परिणाम में अनन्त सुख को प्राप्त होता है।

साभार : मोक्षमाला, श्रीमद् राजचंद्र आश्रम अगास

पृष्ठ 12 का शेष...

भगवान महावीर द्वारा साधा गया

जायेगी। चैतन्य के आनंदरस के समक्ष जगत के सर्व रस तुच्छ हैं। दुनिया क्या कहेगी ?—निंदा करेगी या प्रशंसा ?—यह देखने के लिये ज्ञानी नहीं रुकते। दुनिया से प्रमाण-पत्र नहीं लेना है। हमें तो अपने अनुभवज्ञान द्वारा अपने आत्मा का प्रमाण-ज्ञान मिल गया है; अपने आत्मा में से शांति का वेदन आ गया है, वहाँ दूसरे से पूछना नहीं रहता। हम अब भगवान के मार्ग में सम्मिलित हो गये हैं... वीर भगवान का कहा हुआ मार्ग आत्मा में देख लिया है और उसी मार्ग से अल्पकाल में पूर्ण आत्मा को साधकर हम भी परमात्मा हो जायेंगे। ●

[आत्मधर्म (हिन्दी), अंक-13 (मई-1972), वर्ष-27]

भगवान श्री आदिनाथ विद्यानिकेतन सत्र 19-20 प्रवेश प्रारंभ

(03 अप्रेल से 07 अप्रेल 2019 प्रवेश साक्षात्कार शिविर)

सद्धर्म प्रेमी बन्धुवर सादर जयजिनेन्द्र

प्रत्येक वर्ष की भाँति इस वर्ष भी भगवान श्री आदिनाथ विद्यानिकेतन मङ्गलायतन में प्रवेश प्रक्रिया प्रारंभ हो चुकी है। वर्तमान युग में अपने कोमलमति बालक और युवाओं में धर्म, संस्कार एवं नैतिक शिक्षा के साथ उच्च शिक्षा देना चाहते हो तो अवश्य ही अपने प्रवेश फार्म मङ्गलायतन ऑफिस में जमा करायें।

तीर्थधाम मङ्गलायतन द्वारा संचालित भगवान श्री आदिनाथ विद्यानिकेतन लगातार उन्नति के शिखर को छू रहा है। यहाँ से निकले मङ्गलार्थी उच्च स्तर की प्रशासनिक एवं राष्ट्रीय सेवाएँ देते हुए समाज को तत्त्वज्ञान की शिक्षा दे रहे हैं। स्व-पर कल्याण करते हुए वीतरागी जिनमार्ग को घर-घर पहुँचा रहे हैं।

यदि आप भी चाहते हैं कि आज की पीढ़ी पाप के दलदल में न फँसे, सन्तोषपूर्वक आत्मकल्याण करते हुए अपना जीवन सफल करे तो अवश्य ही भगवान श्री आदिनाथ विद्यानिकेतन में अपने बालकों का प्रवेश करायें।

प्रवेश के योग्य अभयार्थी की पात्रता

(1) सातवीं कक्षा में कम से कम 60 प्रतिशत अंक से पास हो। (2) फार्म भरते समय छठी कक्षा में भी कम से कम 60 प्रतिशत अंक हों। (3) सातवीं कक्षा में अंग्रेजी माध्यम से ही पढ़ता हो। (4) शरीर में कोई असाध्य रोग न हो। (5) जैन धर्मानुसार अभक्ष्य भक्षण नहीं करता हो। (6) जैन धर्म पढ़ने की रुचि रखता हो।

भगवान श्री आदिनाथ विद्यानिकेतन की विशेषताएँ

(1) पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा उद्घाटित वीतरागी तत्त्वज्ञान का गहरा अध्ययन। (2) धार्मिक, नैतिक, सांस्कारिक, सामाजिक, लौकिक, पारलौकिक, आध्यात्मिक, सैद्धांतिक आदि विद्याध्ययन करने का अवसर। (3) भारत के उच्चतम स्कूल डी.पी.एस. में पढ़ने का अवसर। (4) विश्व के प्रसिद्ध विद्वानों से अध्ययन करने का अवसर। (5) चहुँमुखी प्रतिभा एवं विकास के साधन (6) डी.पी.एस. के माध्यम से विश्वस्तरीय खेल, प्रतिस्पर्धा एवं व्यक्तित्व विकास का अवसर। (7) खेल एवं संगीत शिक्षा की विशेष व्यवस्था। (8) मङ्गलायतन द्वारा देश-विदेश में तत्त्वज्ञान आराधना / प्रभावना करने का अवसर। (9) आगामी उच्चस्तरीय शिक्षा की पूर्व में ही विशेष कोचिंग की व्यवस्था। (10) आत्मसम्मान एवं जिनधर्म की शिक्षापूर्वक उच्च आजीविका का अवसर।

शीघ्र ही आप अपने बालकों का फार्म भरकर, तीर्थधाम मङ्गलायतन के पते पर कोरियर द्वारा द्वारा भेजें।

कोरियर भेजने का पता — भगवान श्री आदिनाथ विद्यानिकेतन, तीर्थधाम मङ्गलायतन
द्वारा श्री कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट, हरिनगर, आगरा रोड, अलीगढ़ - 202001 (उ.प्र.)
मोबा : 9027768528, 9997996346, 9756633800

आप फार्म को हमारी वेबसाईट www.mangalayatan.com से डाउनलोड कर सकते हैं।

Regn. No. : DELBIL / 2001/4685 Postal regn. No. : A.L.G. / 29 / 2018-20

मुनिदशा में उपशमरस का ज्वार

अहो! मुनिवर तो आत्मा के आनन्द में झूलते हैं। बारम्बार अन्तर में निर्विकल्प अनुभव करते हैं। बाह्य दृष्टि जीवों को उस मुनिदशा की कल्पना आना भी कठिन है। मुनि की बाह्यदशा तो बिलकुल नग्न दिगम्बर ही होती है तथा अन्तर में आत्मा की शान्ति का सागर उछलता है.... आनन्द का सागर उछलता है.... उपशमरस का ज्वार आया है। यद्यपि अभी महाव्रतादि की शुभवृत्ति उत्पन्न होती है, किन्तु उसे ज्ञानस्वभाव से भिन्न जानते हैं।

(पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी)

पं. सं. : DELBIL/2001/4685
स्वामी, प्रकाशक एवं मुद्रक पवन जैन द्वारा **मङ्गलायतन** मुद्रणालय, आगरा रोड, अलीगढ़-202001 छपवाकर, 'विमलांचल', हरिनगर, अलीगढ़-202001 से प्रकाशित। सम्पादक : पण्डित संजय जैन शास्त्री, मङ्गलायतन।

मङ्गलायतन
श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट, हरिनगर, आगरारोड, अलीगढ़-202001 (उ.प्र.)
Shri Adinath-Kundkund-Kahan Digamber Jain Trust
Harinagar, Agra Road, Aligarh-202001 (U.P.)
Ph. : 9997996346, 2410010/10; Fax : 2410019/22
info@mangalayatan.com www.mangalayatan.com